हिंदी कहानी : स्त्री विमर्श के विविध आयाम : अस्तित्व का प्रश्न

डॉ0 आशा रानी,

दिल्ली विष्वविद्यालय

हिंदी कथा–साहित्य में स्त्री विषयक चर्चा कोई नया विषय नहीं हैं। चाहे वह प्रेमचंद की 'निर्मला' हो, जैनेन्द्र की 'सुनीता', यशपाल की 'शैल' हो या अज्ञेय की 'रेखा'। नारी के 'होने' का सवाल अपनी संपूर्णता एवम् विविधता में कथा–साहित्य के केन्द्र में रहा है किंतु आज महिला–लेखकों ने स्त्री की पुरुषरचित छवि पर सवाल खड़े किए हैं। स्त्री अस्मिता के लिए संपत्ति, सत्ता और स्वाभिमान की मौजूदगी के साथ–साथ जब तक स्वविवेक से फैसला लेने की चेतना जागृत नहीं होगी, तब तक वह अपने को स्वतंत्र मानने की अधिकारिणी भला कैसे हो सकती है? स्वतंत्रता के बाद कई महिला लेखकों ने पुरूष परंपरा की चार दीवारी को तोड़ते हुए एक साहसिक कदम उठाने की पहल की। इस दौरान लिखे गए साहित्य में एक तरफ सामाजिक परंपराओं में कैद और आर्थिक शिकंजे में कसी स्त्री की छटपटाहट दर्ज थी तो दूसरी तरफ थी आधुनिकता की सीढ़ी लांघती स्त्री की उड़ान।

फैसला / संजीव / हंस / अप्रैल / 1995

संजीव की कहानी 'फैसला' समाज में फैली ऐसी ही मोहांधताओं पर कुठाराघात करती हुई आगे बढ़ती है जिसमें पेशे से जज होते हुए भी 'मेहरून्निसा' के चरित्र पर इनके प्रभावों को दर्शाती है। मेहरून्निसा धर्म से एक मुस्लिम / इस्लामिक होते हुए भी स्त्री रूपी ग्रंथि का शिकार है। जो उसके अस्तित्व उसकी अस्मिता पर प्रश्न लगाता है और उसके कोर्ट में आए एक तलाक के केस से उसका खुद का अस्तित्व भी हिल जाता है।

तथाकथित समाज में रहते हुए 'नारी' बनकर जीने और उसकी ज़्यादतियों को सहते रहने की आदत ही उसे भी 'स्त्री' होने की हीनता से ग्रस्त कर देती है। शिक्षा, स्वालंबन और रुतबा भी इन कठोर मान्यताओं के आगे घुटने टेकने को विवश हो जाता है।

अहमद और मुसन्नी के अकेले में दिए गए तलाक को समाज के ठेकेदार अपनी कुत्सित मान्यताओं को वाजिब ठहराने के लिए किस प्रकार दबाव देकर सार्वजनिक करते हैं और इसे धर्म का जामा पहनाकर सांप्रदायिक आग भड़काने की कोशिश करते हैं, प्रस्तुत कहानी में एक के बाद एक घटना इसकी पुष्टि करती है। समाज के शिक्षित, सुंस्कृत और धनाढ्य लोग किस प्रकार धर्म की दीवार खड़ी कर हँसती–खेलती ज़िंदगियों को अपने पैरों तले रौंदते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। और एक ऐसा वातावरण तैयार कर देते हैं कि व्यक्ति उस धर्म के बोझ तले दब कर दम तोड़ देता है। मेहरून्निसा की ये कशमकश कहानी में देखी जा सकती है–''उसकी इच्छा होती है कि अब्बू, अम्मी, बच्चे, फ्रेंड्स कोई तो कुछ बोले, मग़र कोई नहीं बोलता कुछ? जब से गुमनाम धमकियाँ मिलने लगी हैं, पूरा परिवार सकते में आ गया है।...[i] वह कलम से बार–बार मग़ज़ पर दस्तकें दे रही है, मग़र वहाँ से नहीं खुलती कोई राह, वहाँ से बस आवाज़ें आ रही हैं, एक–दूसरे से जूझती आवाज़ें–कभी शमसुद्दीन की गवाही की शक्ल में, कभी अहमद के अटल बयान की शक्ल में, कभी वकीलों की बहसों के पैंतरों में, कभी इन सबको बेमानी करते हुए जुनूनियों के जुलूसों और नारों की शक्ल में। इन सबसे घबराकर वह अंदर के कान मूँद लेती है तो नारे अंदर से फूटते हैं–धमकियों की शक्ल में–उसे तबाह कर दिया जायेगा...[ii] लेकिन परंपरा, धर्म और समाज के चले आए प्रतिबिंब को तोड़ते हुए एक ऐसा फैसला लेती है जो उसे अपने से नज़रें मिलाने के काबिल बना पाता है और वह अपने भीतर की औरत की आवाज़ सुनकर निर्णय करती है–...तूफानी बारिश में भीगी गोरैया की तरह कभी वह गर्दन घुमाकर इधर देख रही थी, कभी उधर....भीगे पंख खिल रहे थे, भीगी पलकें

खिल रही थीं। मानो, बदन झाड़कर वह इस दलदली ज़मीन से उड़ जाने को पंख तोल रही हो। इस एहसास में पागलों–सी हरकत करती हुई वह खासी अटपटी हो रही थी। और कहानी के अंत में टैगोर की कविता इस निर्णय को संबल प्रदान करती हुई आगे बढ़ती है–''माँ के बदन पर धीरे–धीरे थपकी देती हुई गा रही थी, बेटी। उस वक्त न 'माँ' माँ थी, न 'बेटी' बेटी, वे सिर्फ औरतें थीं...एक औरत गा रही थी। एक औरत सुन रही थी और दुनिया भर की तमाम औरतें गीत की लय में जलकुंभियों–सी हिलोरें खा रही थीं...

'' अल्लाह तुम बड़े हो
बहुत ही बड़े हो तुम...
तुमने इतनी बड़ी दुनिया बनाई है
सूरज बनाया है, चाँद–सितारे बनाये हैं
और बनायी है इतनी बड़ी उफक तक
फैली रात.....
हम तुम्हारे ही बनाये छोटे–से मिट्टी के
इंसान हैं
तो क्या हुआ...
हमने भी एक दीया बनाया है,
तुम्हारी इत्ती बड़ी काली रात से
हम छोटे–से मिट्टी के इंसान
मिट्टी के छोटे दीये से लड़ते हैं।
बड़े–बड़े तूफान आते हैं,
बवंडर आते हैं
आँधियाँ आती हैं
हमारा दिया बार–बार बुझता है
हम बार–बार जलाते हैं, हार नहीं मानते
और तब तक जलाते चले जाते हैं
जब तक सूरज की पहली सुनहरी किरण
उसकी लौ को चूम नहीं लेती।''

नारी चेतना विमर्श

भले ही आज स्त्री की छवि अपने–आप में कितनी ही सुदृढ़ क्यों न हो गई हो लेकिन उसका यह बिम्ब ठहरे पानी जैसा है जिसमें स्पर्श करते ही वह विघटित हो जाता है। नारी जहाँ परिवार में अपने–आप को सुरक्षित अनुभव करती है वहीं उसके व्यक्तित्व की मृत्यु भी वहीं पर होती है। यही चेतना और ढर्रे से चली आ रही परिवार व्यवस्था का न बदलने वाला स्वरूप ही आज उसके भीतर एक सबसे बड़े द्वंद्व का प्रत्यार्पण करता है।

कयामत का दिन यानि कब्र से बाहर /जया जादवानी

कहानी का आरंभ एक ऐसे नारी मन की मुक्ति के लिए किए गए संघर्ष की छटपटाहट से होता है जिसमें वह किसी विहग की भाँति खुले आकाश में विचरण करना चाहती है किंतु इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ कि खुले आकाश में भी चील–गिद्ध जैसे दूसरे पक्षी उसे नोचने–दबोचने के लिए घात लगाए बैठे हैं। एक ऐसा भोला पक्षी जो केवल पिंजरे के मायने जानता है, खुले आकाश के नहीं। लेखिका ने प्रस्तुत कहानी में नारी मन की तड़प, मुक्ति के लिए संघर्ष, नारी सुलभ कोमल भावनाएँ, एक ऊहपोहयुक्त विचारों के बीच द्वंद्व और इन सब के ऊपर नारी मन की चेतना को अपनी कहानी में प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही साथ एक अकेली स्त्री का, समाज रूपी भेड़िये के समक्ष विचरण कितना भयंकर हो सकता है, इसका बड़ा ही सुंदर चित्रण किया है। साथ ही लेखिका ये प्रश्न भी छोड़ती हैं कि क्यों केवल कोमल हृदया नारी को ही प्रताड़ित किया जाता है? उसी को ही क्यों केवल बंधनों में रखा जाने का भरसक प्रयास किया जाता है? क्यों समाज रूपी सभ्य समझे जाने वाली संस्था को जो कि वास्तव में सभ्य है ही नहीं उसे क्यों नहीं अपनी सीमा में रहकर नारी का सम्मान रखने के लिए बाध्य किया जाता है!

'स्व' का प्रश्न

आज भी पुरुष समाज इस मोहांधता को नहीं छोड़ पाया कि नारी केवल वस्तु है। उसकी

गरिमा प्रतिष्ठा और सम्मान केवल इस बात में निहित है कि वह घर या समाज के बनाये हुये नियमों का निष्ठा से पालन करें और एक असुरक्षित सुरक्षा घेरे में अपने को बाँध कर अपना जीवनयापन करें। समाज के विकास की ओर अग्रसर होते हुए भी आज भी नारी के प्रति सोच दकियानूसी है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद सरीखे महापुरुष, जिन्होंने 'हिन्दू कोड बिल' में नारी को दिये जाने वाले समान अधिकारों के प्रति विरोध जताया था। या स्वयं हमारी न्याय–प्रणाली के प्रवक्ता न्यायमूर्ति जैसे व्यक्ति भी नारी के लिए केवल एक चार–दीवारी में कर्मनिष्ठा की छवि ही निर्धारित करते हैं। उसे ताज़ी हवा में साँस लेने का कोई अधिकार नहीं है।

गंवार /साबिर हुसैन (हिन्दी वेबसाइट 'अभिव्यक्ति' से साभार–सन् 2000 प्रकाशित वर्ष)

संबंधों की सार्थकता और समाज में फैले वैमनस्य के द्वन्द्व को स्पष्ट करती ये कहानी मूल्यों में एक चेतना का परचम् फहराती है। उर्मि का जीवन वास्तव में सार्थकता को तब प्राप्त करता है जब सबके विरोध करने के बावजूद अपने पति की स्वीकृति उसे प्राप्त होती है और उसे यह विश्वास दिलाती है कि वह उसके घर में पड़ी हुई कोई व्यर्थ की वस्तु नहीं है अपितु उसके जीवन में 'गंवार' होती हुई भी उसकी महत्ता सर्वोपरि है वह अपने को धन्य मानती है।

वहीं दूसरी ओर, मूल्यों को ताक पर रखते हुए रघु की माँ उसके सरकारी नौकरी मिलते ही दूसरे विवाह की सोचने लगती । नारी सुलभ हृदय मन ही मन डरने लगता है कि कहीं वास्तव में ही रघु 'उसे' छोड़कर शहर में दूसरी शादी को स्वीकृति न दे दे। लेकिन रघु के चरित्र की सार्थकता 'उर्मि' के ही अंगीकार में है।

रहोगी तुम वही/सुधा अरोड़ा/ 1994/हंसः नारी अस्मिता का प्रश्न

कहानी का आरंभ ही उलाहने से होता है–''क्या यह ज़रूरी है कि तीन बार घंटी बजाने से पहले दरवाज़ा खोला ही न जाये...उफ़! इस बिस्तर पर तो बैठना मुश्किल है! इस चादर से पेशाब की गंध आ रही है...फिर वही शर्बत! तुम्हें अच्छी तरह मालूम है–मेरा गला खराब है। पकड़ा दिया हाथ में ठंडा शर्बत!...और सुनो मेहरबानी कर आगे से आते ही ठंडा शर्बत मत ले आया करो सामने।...''

सुधा अरोड़ा नारी भावों को बहुत ही गंभीरता से व्यक्त करने वाली लेखिका मानी जाती हैं। प्रस्तुत कहानी नारी के 'स्व' पर एक प्रश्न लगाती है। उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, मर्यादाएँ और उन सब से पहले उसकी स्वयं पर गहरी पैठ, उसके स्वभावगत धरातल पर कोमल अश्रु बिंदुओं की भांति लुढ़क–ढुलक कर उसे और भी स्निग्ध, सौंदर्यशील और परिपूर्ण बनाती है किंतु पुरुष स्वभाव के समक्ष नारी का 'स्व' कहीं खो जाता है।

पुरुष के परुष स्वभाव के समक्ष वह केवल एक मोम की गुड़िया की भांति पिघल जाती है उसके बावजूद भी पुरुष केवल ओर केवल पुरुष शिला की भाँति रहता है उसकी स्वभावगत परुषता कम होने के स्थान पर बढ़ती ही जाती है।

पुरुष स्वभावानुरूप स्त्री को केवल और केवल एक वस्तु, एक मशीन, एक कठपुतली मानता है जो कि उसके संकेतों पर कार्य करती है। जब जहाँ जिस स्थान पर जिस ढंग से रखना चाहा उसे उसी प्रकार रखा है। कहानी के कुछ यंत्रवत् से वाक्य हमें यह सोचने पर मजबूर करते हैं। कहानी में केवल एक ही पक्ष के संवाद हैं या ये कहें कि वाद है तो है उसका संवाद या प्रतिवाद तो है ही नहीं और उस पर भी कहानी की सशक्तता देखते ही बनती है। पुरुष, अपनी स्त्री से कहता है –''अच्छा, यह बताओ, मैंने इतने प्रपोज़ल में से तुम्हें ही शादी के लिए पसंद क्यों किया था? इसलिए कि तुम पढ़ी–लिखी थीं, संगीत विशारद थीं....इतने खूबसूरत लैंडस्केप तुम्हारे घर की दीवारों पर लगे थे,...''

यहाँ यह प्रश्न कौंधता है कि नारी मन की कोमलता ही उसे 'प्रिय' के प्रति समर्पित करती है जिससे कि वह हर उस चीज़ को

अंगीकार करने का प्रयत्न करती है जो कि 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' को अंगीकार करती है क्योंकि नारी स्वयं भी तो प्रकृतिस्वरूपा मानी गयी है, तो वह क्यों नहीं सब कुछ सौंदर्यशील बनाने का प्रयत्न करेगी। किंतु वहीं जब विवाह उपरांत वह केवल एक सजी–सँवरी वस्तु मानी जाती है । अपेक्षाएँ जहाँ 'स्व' से बढ़कर उसे बोझ तले दबा देती है तो नारी का कोमल स्वभाव पुरूष की 'परुषता' के बोझ तले दब कर दम तोड़ देता है।

संबंध केवल एक छत के नीचे जीना ही नहीं उसे साथ मिलकर निभाना भी होता है। विवाहोपरांत उत्तरदायित्त्व केवल स्त्री का ही नहीं पुरुष का भी होता है। एक मानसिक सुख जिसे कि स्त्री प्राप्त करना चाहती है, जब वह उसे नहीं मिलता और केवल अपेक्षाएँ ही उसके समक्ष रखी जाती हैं तो उसका कोमल मन दम तोड़ देता है।

और कहानी के अंत में इन पंक्तियों को देखिये...

''तुम्हारी आदतें कभी सुधरेंगी नहीं। पंद्रह सालों में तुमने यह तक नहीं सीखा कि आदमी थका–मांदा ऑफिस से आये तो एक बार की घंटी में दरवाज़ा खोल दिया जाये।...यह कोई वक्त है चाय पीने का? खाना लगाओ। गर्मी से वैसे ही बेहाल हैं, बस चाय थमा दी...कभी ठंडा नींबू पानी ही ले आया करो!...''[iii]

ऐसा क्यों होता है कि गृहस्थाश्रम का दायित्वबोध केवल और केवल स्त्री के समक्ष ही रखा जाता है। परंपरा की इस परिपाटी का ध्येय केवल स्त्री को एक बंधुआ बनाना है, उससे आगे कुछ नहीं। और उस पर भी पत्यानुरूप स्वभाव के चलते जब वह बदलती है तो पुरूष का स्त्री के प्रति 'स्थायित्व' का स्वभाव बिफर उठता है– ''यह क्या है? मेरे जूते रिपेअर नहीं करवाये तुमने? और बिजली का बिल भी नहीं भरा? तुमसे घर में टिककर बैठा जाए, तब न! स्कूल में पढ़ाती हो, वह क्या काफी नहीं है? ऊपर से यह समाज सेवा का रोग पाल लिया अपने सिर पर...'' यह तुमने बाल इतने छोटे क्यों कटवा लिये हैं? तुम्हें क्या लगता है, छोटे बालों में बहुत खूबसूरत दिखती हो! चेहरे पर सूट करें या न करें, फैशन ज़रूर करो।...ऐसा भी क्या पढ़ रही हो जिसे पढ़े बिना तुम्हारा जन्म अधूरा रह जायेगा। कितनी भी किताबें पढ़ लो, तुम्हारी बुद्धि में कोई बढ़ोतरी होने वाली नहीं है। रहोगी तो तुम वही...!!

पुरूष का अहंकार एवम् अपेक्षाएँ नारी मन की पैठ नहीं कर सकतीं और यही विचार स्वयं अपने ही भीतर पुरुषत्व के दंभ को इतना विशालकाय बना देता है कि किसी के होने न होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सुधा अरोड़ा की कहानी 'रहोगी तुम वही' हमेशा से चलती आयी पुरुषत्व की दंभी प्रवृत्ति पर एक सशक्त प्रहार करती है । कहानी का आरंभ केवल उपालंभों से और अंत भी केवल उपालंभ से होता है। संवाद का प्रत्युत्तर कहीं नहीं है, केवल उलाहना ही उलाहना है जिसकी एक अनवरत शृंखला–सी दिखाई देती है। नारी के कोमल स्वभाव का उत्तर है–'रहोगी तुम वही' जिसमें पुरुष नहीं, केवल नारी है। पुरुष की इच्छाओं को पूर्ण करने वाली, किंतु नारी के प्रति पुरुष की हीन दृष्टि उसे किसी भी रूप में स्वीकार न करते हुए उसे बराबरी का दर्जा देने की सोच तो मन में ला ही नहीं सकता ।

यह कहानी अंत में कई प्रश्न खडे करती है जिनमें से एक बड़ा प्रश्न 'नारी की अस्मिता', उसके 'अस्तित्व' पर एक बड़ा प्रश्न लगाता है।

अस्मिता संघर्ष

समय ने करवट ले ली है। नारी अब अपने पारंपरिक स्वरूप को त्याग कर जुझारू बन चुकी है। आज की शिक्षित स्त्रियाँ सरकारी और गैर सरकारी उच्च पदों पर प्रतिष्ठित हैं लेकिन कितनी बड़ी विडंबना है कि ऐसी स्त्रियों से असुरक्षित महसूस करते पुरुष, दिनोंदिन ज़्यादा शंकालु और हिंसक होते जा रहे हैं। आर्थिक स्वतंत्रता से रिश्तों की जकड़नें जटिल से जटिलतर होती जा रही हैं। प्रताड़ना के नये औज़ारों पर रोज़ धार दी जा रही है। किंतु पुरुष सत्ता की जड़ें चाहे जितनी गहरी धंसी हों उन्हें तोड़ने/बदलने की यह एक न समाप्त होने वाली लड़ाई को वे आरंभ कर चुकी है।

रिश्ता / योगेश भटनागर / हंस / 1995 / अक्षर प्रकाशन

समय के साथ समाज, व्यवस्था और परम्पराएँ तो बदली ही, इस सब के साथ एक और चीज़ जो बहुत तेज़ी से बदली वह है–मानव–संबंधों का स्वरूप। संबंधों की सार्थकता भावों में निहित है किंतु जब स्वार्थ ही संबंधों पर हावी हो जाएँ तो जन्मजात संस्कार, जीवन मूल्य कुछ नहीं करते। रह जाती है तो केवल शुष्कता जिसमें एक अजीब–सा सुन्नपन महसूस होता है। जहाँ यह तो पता चलता है कि चोट कहाँ लगी है, दर्द कहाँ हो रहा है किंतु फिर भी एक अजीब–सी निःशब्दता की प्रवृत्ति वहाँ बनी रहती है। वहाँ केवल और केवल दिखावा, भोंडापन और बेशर्मी का अस्तित्व छाया रहता है जो अपने चहुँमुखी विकास के नाम पर न जाने कितने बेगुनाहों को अपने पैरों तले रौंदने में ही अपनी सार्थकता समझता है। जहाँ केवल और केवल अवसरवादिता घात लगाये बैठी रहती है और संबंधों की राजनीति अपना खेल खेलती रहती है। 'रिश्ता' कहानी इन्हीं 'मानव संबंधों को ताक पर रखकर पुत्र और माता के गरिमामय पावन स्नेह को केवल अपनी स्वार्थलिप्सा में समाप्त करते एक ऐसे ही पुत्र की कहानी है जो केवल रक्तसंबंधों पर तो व्यंग्य करती ही है। वहीं सच्चे मन से बनाए रिश्तों की गरिमा को भी स्थापित करती हुई आगे बढ़ती है।

कहानी का आरंभ एक ऐसी माँ से होता है जो अपने स्वयं के पुत्र द्वारा अपनी संपत्ति हथियाने के लिए की गयी कोशिश के विरोध में न्यायालय को एक पत्र लिखती है। न्यायालय में दिये गये प्रार्थना पत्र के आरंभ से ही उसकी कर्मठता, लगन और सुदृढ़ विचारों का आभास होता है जो आयु के अंतिम पड़ाव में भी अपना अधिकार वापस लेने के लिए जुझारू है। अपने पति की मृत्यु के उपरांत अपने छोटे बेटे द्वारा अपनी संपत्ति हथिया लेने पर वह हिम्मत नहीं हारती अपितु अपने हक की लड़ाई लड़ते हुए 'डॉ0 अरून्धती देवी 'पी0एच0डी0' आदर्श टीचर' अपनी उम्र के एक बहुत बड़े हिस्से की आहुति दे देती है और अंत में एक सच्चे विजेता का परचम फहरा देती है। किंतु संबंधों की आत्मीयता का आरंभ जज अमरनाथ से 'पुत्र और माता' के रिश्ते का सूत्रपात होता है। न्यायालय की इतनी लंबी लड़ाई को भी वह 'वृद्धा' अपनी कर्मठता, धैर्य और सूझ–बूझ से जीत लेती है और इसी कानूनी लड़ाई के दौरान जज अमरनाथ से उनका रिश्ता अपने पेट जाय बच्चों से भी अधिक हो जाता है। वहीं इसके विपरीत संबंधों की निरीहिता तब कचोटती है जब अरूंधती देवी का उदरजनित पुत्र अपनी माँ को अपने पिता की 'विधवा' कहकर संबोधित करता है।

न्यायालय के चक्कर काटते–काटते जब अरूंधती एक दिन बेहोश होकर गिर पड़ती है तो जज अमरनाथ डॉक्टर बुलाकर अपने ही दफ्तर में उनका इलाज कराते हैं और बाहर डॉ0 अरूंधती देवी का स्वयं का पुत्र सिद्धार्थ नारायण और उसका वकील तारीख बढ़ाने की अर्ज़ी दे रहे होते हैं। इस घटना के बाद अरूंधती का जज अमरनाथ के साथ एक माँ–पुत्र वाला संबंध स्थापित हो जाता है। वह कहती है, ''...तुम तो आज मेरे सगे बेटे से भी ज़्यादा हो। डॉक्टर बुलवाया, अपने कमरे में लिटाया और अब घर भी छोड़ रहे हो। यही मेरा भाग्य है, जिससे कोई रिश्ता नहीं वो ही काम आया। वैसे भी रिश्ते तो मन के होते हैं, बेटा।''...-[iv] और दस वर्ष की अनवरत लड़ाई लड़ते–लड़ते अरूंधति और जज अमरनाथ के बीच एक बहुत ही ममतामय रिश्ता बन चुका था''...अमरनाथ के लिए वह 'माँजी' हो गयी थीं और उनके लिए वह 'अमर'। बहू को नाम से बुलातीं ओर उनका लड़का गौरवनाथ उनके लिए 'गोरा' हो गया था ।''....-[v]

और अंत में डॉ0 अरूंधति देवी की वसीयत मन की कुछ गाँठों को और मज़बूती से लगा देती है और कई नये रिश्ते जोड़ लेती है। उनकी यह वसीयत जहाँ नये आत्मीय संबंधों को और गहरा और मज़बूत करती है वहीं एक नई चेतना का संचार करती है। अपने हक के लिए लड़ने की और एक मशाल का आरंभ करती है। वह लिखवाती हैं– ''मैं डॉ0 अरूंधति देवी...अपने होशोहवास में यह वसीयतनामा लिख रही हूँ। मेरे मरने के बाद...जो मेरा मकान है उसको मेरे 'किरायेदार' सिद्धार्थ नारायण से खाली करवाने का 'हक' मैं जज अमरनाथ को देती हूँ। मकान

की पहली मंज़िल को बेच दिया जाये और जो भी पैसा आये उसको अमरनाथ फिक्सड डिपोज़िट में रखें। इसके सूद से अमरनाथ ग़रीब, बेसहारा, बेवा और हर सताई हुई औरत, लड़की और बुढ़िया को वकील मुहैय्या करवाएँ और उनकी फीस दें। मैं चाहती हूँ , हर सताई हुई औरत अपने हक के लिए कचहरी में आए। कचहरी का रिश्ता हक का रिश्ता है, जो मन के रिश्ते से भी अधिक गहरा होता है। हक के रिश्ते अमरनाथ मेरे मरने के बाद आगे बढ़ायेंगें....

डॉ0 अरूंधति देवी की अंतिम लड़ाई हिम्मत, कर्त्तव्यनिष्ठा, सुदृढ़ता और एकाग्रता का संचार करती, समाज के कईं प्रश्नों पर कुठाराघात करती हुई चेतना का संचार करती है।

आज की महिला लेखक पूरे साहस के साथ स्त्री के अनछुए पन्नों को बेबाकी से खोलने लगी हैं। आज की कहानी पूरी पारदर्शिता के साथ स्त्री स्वतंत्रता के भ्रामक बाहरी आवरणों को भेदकर स्त्री की भीतरी दुनिया में घुसपैठ करने लगी हैं । वह खुद अपनी महान शक्तियों को पहचान कर अपनी बागडोर मुट्ठी में लेकर अपने तयशुदा रास्तों पर चलने का साहस कर सकती है।

Copyright © 2013. *Dr Asha Rani*. This is an open access refereed article distributed under the Creative Common Attribution License which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.

[i] कहानीः फैसलाः पृ025 / हंस / 1995 / अप्रैल / अक्षर प्रकाशन

[ii] कहानीः फैसलाः पृ025 / हंस / 1995 / अप्रैल / अक्षर प्रकाशन

[iii] रहोगी तुम वही / सुधा अरोड़ा / 1994 / हंस (पृ0 15) / अक्षर प्रकाशन

[iv] रिश्ता(कहानी), लेखकः राजेश भटनागर, पृ037 कहानी अंक–अप्रैल 1995–हंस / अक्षर प्रकाशन

[v] रिश्ता(कहानी), लेखकः राजेश भटनागर,, पृ037 कहानी अंक–अप्रैल 1995–हंस / अक्षर प्रकाशन